संस्कृति का स्वरूप : भारतीय संस्कृति और जैन-संस्कृति

प्रो० विजयेन्द्र स्नातक

संस्कृति क्या है और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह निर्णय करना कठिन है। संस्कृति के विधायक तत्त्वों को दृष्टि में रखकर ही इसके स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है किन्तु संस्कृति-निर्माता तत्त्व भी विद्वानों और विचारकों की दृष्टि में समान नहीं हैं। 'नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' जैसी बात संस्कृति की परिभाषाओं में भी पायी जाती है। इसलिए संस्कृति की सर्वांगपूर्ण, निर्दोष और सर्वसम्मत परिभाषा देने की बात मैं नहीं कर सकता। मैं सबसे पहले एक प्रश्न उठाना चाहता हूं जो संस्कृति के मूल उद्भव से संबंध रखता है, तदनंतर उसके विधायक तत्त्वों की चर्चा करूंगा।

कुछ विचारक ऐसा मानते हैं कि संस्कृति का मूल, जन्मजात वंश-परम्परा से उत्पन्न सहजात संस्कार में निहित है। उन्हीं जन्मजात संस्कारों का प्रतिफलन व्यक्ति के चरित्र में होता है और वही व्यक्ति की संस्कृति को इस धरोहर से निर्मित करता है। दूसरे विद्वान् इस विचार का जोरदार खंडन करते हैं। उनकी मान्यता है कि संस्कृति शब्द में ही उसके अर्जित करने की प्रक्रिया निहित है। जो संस्कार अर्थात् निरन्तर अभ्यास द्वारा विकसित की जाए वह संस्कृति है। इसके लिए शिक्षा, नैतिकता, आचरण की पवित्रता, साहित्य, विज्ञान आदि का उपार्जित ज्ञान तथा समाज में व्यवहार की विधि आदि की अपेक्षा रहती है। उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्मतः ज्ञानवान्, विवेकी, शिक्षित, अनुभवी या पंडित नहीं होता। आभिजात्य या कुलीनता तो उसे जन्म से प्राप्त हो जाती है किन्तु संस्कृति उसे संसार में रहकर संस्कार द्वारा अर्जित करनी होती है। अतः जन्म या वंश-परम्परा के साथ संस्कृति का अविच्छिन्न संबंध नहीं माना जा सकता।

तीसरी कोटि के कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो वंश-परम्परा या जन्म के मध्य समन्वय करके यह मानते हैं कि संस्कृति प्रतिभाजन्य ईश्वरीय वरदान है। यह वरदान जाति, वर्ण, धर्म आदि की अपेक्षा नहीं करता। अकुलीन, निर्धन या दलित वर्ग में जन्म लेने वाला व्यक्ति भी ईश्वरीय देन से प्रतिभाशाली और सुसंस्कृत होता देखा गया है, अतः इसे ईश्वरीय देन ही माना जाना चाहिए। वस्तुतः प्रतिभाजन्य संस्कृति में विश्वास रखने वाले यह भूल जाते हैं कि ज्ञान-विज्ञान, कला और साहित्य में अद्भुत क्षमता रखने वाले प्रतिभाशाली सभी व्यक्ति सुसंस्कृत नहीं होते। कतिपय विलक्षण विद्वान् और प्रतिभाशाली व्यक्तियों का चरित्र इतना संस्कृतिविहीन और अशिष्ट पाया जाता है कि हम उन्हें किसी प्रकार संस्कृत व्यक्ति नहीं कह सकते। संस्कृति-पूर्णता के लिए धन-वैभव, ऐश्वर्य-संपत्ति, प्रतिभा-क्षमता, विद्या-कला, ज्ञान-विज्ञान आदि से संपन्न होना मात्र पर्याप्त नहीं है। आचरण और व्यवहार की पवित्रता, मानवीय संवेदना, सहिष्णुता, परदुःखकातरता, अपरिग्रह, अहिंसा और क्षमाशीलता आदि गुणों की भी नितान्त आवश्यकता है। एफ०जे० ब्राउन ने अपनी पुस्तक 'एजुकेशनल सोशियालोजी' में संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "संस्कृति मानव के संपूर्ण व्यवहार का ढांचा है जो अंशतः भौतिक परिवेश से प्रभावित होता है। यह परिवेश प्राकृतिक एवं मानव-निर्मित दोनों प्रकार का हो सकता है। किन्तु प्रमुख रूप से यह ढांचा सुनिश्चित विचारधाराओं, प्रवृत्तियों, मूल्यों तथा आदतों द्वारा प्रभावित होता है, जिसका विकास समूह द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जा सकता है।" इसी आधार पर 'प्रिमिटिव कल्चर' के लेखक एडवर्ड टायलर ने संस्कृति को ज्ञान, विश्वास, कला, साहित्य, रीति-रिवाज का अर्जित ज्ञान ठहराया है और कहा है कि मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते इन सबके सम्मिश्रण से संस्कृति को प्राप्त करता है। वास्तव में संस्कृति का विस्तार इतना व्यापक है कि उसे हम न तो जन्मजात कह सकते हैं, न उसे ईश्वरीय देन ठहरा सकते हैं और न विद्वत्ता या प्रतिभा के आधार पर उसकी अनिवार्यता सिद्ध कर सकते हैं।

वस्तुतः संस्कृति शब्द किसी ठोस यथार्थ (सत्) का वाचक नहीं है, बल्कि केवल एक अमूर्त कल्पना है। इसलिए विद्वानों के विचार भी अस्पष्ट और विविध हैं। एक विद्वान् के मत में, "संस्कृति के स्वरूप की जिज्ञासा वास्तव में अर्थ तथा मूल्य के स्वरूप की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिज्ञासा है। संस्कृति हमारी जीवनविधा तथा विचार-विधा में, प्रतिदिन के परस्पर आदान-प्रदान में, कला, साहित्य, धर्म, विज्ञान तथा मनोरंजन की विशिष्ट विधाओं में व्यक्त हमारी प्रकृति ही है।" एक विद्वान् ऐसे भी हैं जो जीवन-दृष्टि को ही संस्कृति मानते हैं

संस्कृति के संबंध में एक विषय पर सभी विद्वानों में मतैक्य है। सभी विचारक यह मानते हैं कि मानवेतर प्राणियों में संस्कृति नहीं होती। संस्कृति मानव की अपनी विशिष्टता है। मानव के पास अपनी संस्कृति को अभिव्यक्त करने के साधन हैं। कला, विज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि इसी कोटि में आते हैं जो मानवेतर प्राणियों के पास नहीं होते।

संस्कृति समाज के संरक्षण और मानव-विकास की सरणि है। यदि स्वस्थ और सभ्य समाज की हम अपेक्षा करें तो हमें संस्कृति के संपोषण का प्रयत्न करना होगा। संस्कृति के इस संपोषण में सैकड़ों वर्ष लगते हैं और शनैः शनैः विविध संस्कारों और रीति-रिवाजों से छनकर संस्कृति रूप धारण करती है। किसी लेखक की मान्यता है कि "सैकड़ों वर्षों में थोड़ा-सा इतिहास बनता है, सैकड़ों वर्षों के इतिहास के बाद परम्परा बनती है, यह परंपरा ही किसी जाति या देश की आधार-भूमि बनती है। संस्कृति सुदीर्घ-कालीन अनुभव, प्रयोग और विविध परीक्षणों की परिणति होती है। संस्कृति राष्ट्रीय रिक्थ है—यह ऐसी संपदा है जो राष्ट्र को प्रकाश देती है, आत्मविश्वास जाग्रत् करती है। उसे आशावादी और उत्कर्षकामी बनाती है।"

संस्कृति-विवेचन के संदर्भ में सभ्यता और धर्म की चर्चा करना मैं आवश्यक समझता हूं। इन दोनों शब्दों को प्रायः संस्कृति के समानांतर या कभी-कभी प्रमादवश पर्याय के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। विद्वानों ने प्रारंभ से इस भ्रम के निवारण की चेष्टा की है और यह स्पष्ट करना चाहा है कि सभ्यता और संस्कृति के मध्य विभाजक रेखा खींचना कठिन नहीं है। संस्कृति मनुष्य की उन क्रियाओं, व्यापारों और विचारों का नाम है जिन्हें वह साध्य के रूप में देखता है। संस्कृति मानव-समाज के विकास की द्योतक है। संस्कृति का संबंध चिंतन, मनन तथा आचरण की उदात्तता से है। आध्यात्मिक स्तर पर विकसित होने पर ही मनुष्य संस्कृति के परिवेश में प्रविष्ट होता है। सभ्यता से तात्पर्य मनुष्य के भौतिक उपकरण, साधन, आविष्कार, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थान तथा उपयोगी कलाओं का अंगीकार है। सभ्यता मनुष्य की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न उपयोगी साधनों तथा दैनंदिन वस्तुओं पर निर्भर करती है। किसी समाज या राष्ट्र की आंतरिक प्रकृति की पहचान उसकी संस्कृति से होती है, सभ्यता उस समाज या राष्ट्र को प्राप्त बाह्य उपकरणों से जानी-पहचानी जाती है। संस्कृति का लक्ष्य मानव जाति के लिए शाश्वत मूल्यों की खोज है तो सभ्यता का ध्येय मानव-समाज के लिए भौतिक सुख-सुविधा के साधन जुटाने से है। जर्मन विद्वान् स्पेंगलर ने सभ्यता को संस्कृति की चरम दशा कहा है। यह चरम दशा उत्थान की नहीं, उसके पतन की भी होती है। अर्थात् भौतिक उपकरणों एवं सुख-साधनों की अतिशयता ही पतन का कारण बनती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पाश्चात्य देशों की वैज्ञानिक प्रगति तथा उससे उत्पन्न सभ्यता है।

संस्कृति और धर्म का पारस्परिक क्या संबंध है और क्या धर्म संस्कृति का अविच्छिन्न अंग है? धर्म-विहीन समाज और संस्कृति-विहीन समाज क्या समान हैं? इस प्रकार के और भी अनेक प्रश्न इस संदर्भ में उठाए जाते रहे हैं। वास्तव में धर्म शब्द संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त न होकर कर्त्तव्य, शुद्धाचरण, संयम, नियम आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। तब उसमें संस्कृति के अनेक उपादान समाहित रहते हैं किन्तु जब धर्म, मजहब के संकीर्ण दायरे में रूढ़िवादिता और धर्मांधता का वाचक बनता है, तब उसका संस्कृति से सीधा सरोकार नहीं रहता। व्यक्ति और समाज के जीवन को जो धारण कर सके, वही सच्चा धर्म है। समाज की व्यवस्था, नियमित चर्या तथा व्यक्ति-विकास के नियमों का उपदेष्टा ही धर्म है। कणाद मुनि के शब्दों में "यतोऽभ्युदयनिश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः" जिससे अभ्युदय, इस लोक का उत्कर्ष और निःश्रेयस, परलोक का कल्याण होता हो वह धर्म है। संस्कृत व्यक्ति के लिए इसी प्रकार के धर्माचरण की आवश्यकता है। अतः पथ, मत, संप्रदाय, मजहब आदि की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर जो प्राणिमात्र के कल्याण का पथ प्रशस्त करे वह धर्म ही सही धर्म है और धर्म-पथ पर संस्कृति के मार्ग से चला जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि धर्म और संस्कृति का घनिष्ठ संबंध होने पर भी संस्कृति शब्द धर्म का पर्याय नहीं है। इन दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध होने पर भी मौलिक अंतर है। कुछ ऐसे रूढ़िवादी धार्मिक व्यक्ति समाज में देखे जाते हैं जो धर्म के नाम पर दंभ और पाखंड का प्रपंच फैलाकर समाज को भ्रमित करते हैं, वस्तुतः वे धार्मिक नहीं हैं और संस्कृति से तो उनका दूर का भी नाता-रिश्ता नहीं माना जा सकता है।

धर्म-साधना में व्यक्ति और समाज दोनों का योगदान रहता है। किन्तु व्यक्तिगत साधना या व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर हम संस्कृति का स्वरूप निर्धारित नहीं कर सकते। समष्टिगत या सामाजिक अनुभव को ही संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है। सामाजिक अनुभव हमें तीन रूपों में दिखाई देता है। उसे हम तीन विधाओं में अलग-अलग करके भी रख सकते हैं। पहला रूप शिल्प-कौशल, वैज्ञानिक तथा तकनीकी आविष्कार का है जो ज्ञान के भौतिक रूप हैं। दूसरी विधा वे संस्थाएं हैं जो समाज को व्यवस्थित करने के लिए किसी समाज में स्थापित होती हैं जैसे सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक संस्थाएं। तीसरी विधा दर्शन और कला की है जिसमें साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि का समावेश है। यह सर्जनात्मक होने के साथ सूक्ष्मतर भी है। अब देखना यह है कि क्या तीनों विधाओं का प्रत्येक समाज में विकास होना जरूरी है, ताकि वे संस्कृत और सभ्य समझे जा सकें? इसका उत्तर स्पष्ट है। ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखा गया है कि आदिम समाज में कलात्मक दृष्टि से कभी-कभी अधिक समृद्धि पायी जाती है। यांत्रिक आविष्कारों से समृद्ध होने पर भी कुछ जातियाँ सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी होती हैं और उनका चारित्रिक स्तर भी हीन कोटि का होता है। सभ्यता की दृष्टि से अमरीका आज समृद्ध है किन्तु मानव-मूल्य एवं कलात्मक संस्कार की दृष्टि से वह संस्कृति के स्तर पर निर्धन ही माना जाएगा।

पाश्चात्य विचारकों ने संस्कृति और सभ्यता शब्दों के प्रयोग पर ही नहीं, इनके क्षेत्र और अवधारणा पर भी विचार व्यक्त किए हैं। ऊंची संस्कृति के एक खास पहलू को सभ्यता कहने वाले विद्वान् इसे संस्कृति का मात्र पर्याय स्वीकार नहीं करते। मैकाइवर ने सभ्यता को उपयोगिता के साथ और संस्कृति को मौलिक मूल्यों के साथ जोड़कर देखने की बात कही है। इसीलिए कभी-कभी सभ्यता का संस्कृति से विरोध भी संभव हो सकता है। कुछ विद्वान् परम्परा को संस्कृति के साथ रखकर इसे नैतिक मूल्यों तथा सभ्यता को व्यावहारिक मूल्यों की सीमा में रखकर इनका पार्थक्य व्यक्त करते हैं। जो लोग संस्कृति को सामाजिक विरासत या सामाजिक परंपरा में देखते हैं वे भी इनका पार्थक्य स्पष्टतः रेखांकित नहीं कर पाते। इसी विचार-सरणि में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो कुटुम्ब के आचरण को संस्कृति के विकास में प्रमुख स्थान देते हैं किंतु साम्यवादी चिंतन में परंपरा को कोई स्थान नहीं है। मार्क्स ने तो स्पष्टतः परम्परा को एक भयावना स्वप्न माना है और कहा है कि यह नयी पीढ़ी के मस्तिष्क पर भूत-सा छाया रहता है।

आधुनिक युग में संस्कृति शब्द का कुछ ऐसा अर्थ-विस्तार हुआ है कि एक ओर वह अपने मूल से विच्छिन्न हो गया है तो दूसरी ओर ऐसे क्षेत्र में पहुंच गया है जहाँ वह अपनी सार्थकता खो बैठा है। इसमें संदेह नहीं कि ललित कलाएं संस्कृति-निर्माण में सहायक होती हैं किंतु आजकल जिस प्रकार सांस्कृतिक कार्यक्रम शब्द का प्रयोग होने लगा है वह एक सीमित कलात्मक प्रदर्शन है। संस्कृति कलाओं तक सीमित नहीं है। संस्कृति का व्यक्ति और समाज के मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास के साथ गहरा संबंध है। संस्कृति किसी बाह्य प्रदर्शन तक चाहे वह कलात्मक (नृत्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला आदि) प्रदर्शन ही क्यों न हो, सीमित नहीं है। संस्कृति का व्यक्तिसंस्कार के साथ गहरा और अटूट संबंध है। व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उसके विकास और परिष्कार के लिए किए गए प्रयासों में संस्कृति का अन्वेषण एक सीमा तक संस्कृति की सही खोज है।

भारतीय संस्कृति के मूलाधार

भारतीय संस्कृति का विवेचन और विश्लेषण करने से पहले यह ध्यातव्य है कि भारत की संस्कृति एक गतिशील (डायनेमिक) संस्कृति है। वह युग-धर्म के साथ अपने रूपाकार में परिवर्तनशील रही है अतः यह मान लेना कि वैदिक युग की, रामायण या महाभारत युग की, पौराणिक युग की, बौद्धकाल की या मध्ययुग की संस्कृति ठेठ भारतीय है, भारतीय संस्कृति के मूलाधार को न समझना ही है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने दिनकर-प्रणीत 'संस्कृति के चार अध्याय' पुस्तक की भूमिका में भारतीय संस्कृति के व्यापक रूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक (कंपोजिट) है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व मोहंजोदडों आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान् सभ्यता तक पहुँचता है, दूसरी ओर इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत गहरी छाप है जो भारत में मध्य एशिया से आए थे। पीछे चलकर यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आने वाले तथा फिर समुद्र की राह से आने वाले लोगों से बार-बार प्रभावित हुई। इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया। इस संस्कृति में समन्वयन तथा नये उपकरणों को पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता है।" इस लम्बे उद्धरण से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति का इतिहास जितना पुराना है, उतने ही उपकरणों का वैविध्य भी इस में है। इस संस्कृति को विश्व के सभी राष्ट्रों से भिन्न एवं उदात्त माना जाता है। इसे सभी विद्वानों ने उदार संस्कृति की संज्ञा दी है। 'हिन्दू व्यू आफ लाइफ' पुस्तक में डा० राधाकृष्णन ने लिखा है कि "हिन्दू धर्म ने बाहर से आने वाली जातियों तथा आदिवासियों के देवी-देवताओं को स्वीकार कर अपना देवी-देवता मान लिया। ईरानी, हूण, शक, कुषाण, पार्थियन, बैक्ट्रियन, मंगोल, सीथियन, तुर्क, ईसाई, यहूदी, पारसी सभी भारतीय संस्कृति के महासागर में विलीन हो गए—ठीक वैसे ही जैसे छोटी नदियां और नद समुद्र में आकर विलीन हो जाते हैं।" इसलिए भारतीय संस्कृति का काल निर्धारण करना या उसे किसी एक युग विशेष की देन ठहराना समीचीन नहीं है। वांछनीय एवं अभ्युदयमूलक परिवर्तनों को ग्रहण करना भारतीय मनीषा की अपनी विशेषता है। यदि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति का अनुशीलन किया जाए तो ज्ञात होगा कि इसमें युगानुरूप संशोधन, परिवर्तन, परिमार्जन होते रहे हैं और उस काल की विशिष्ट देन को यह संस्कृति सहेजकर आत्मसात् करती रही है। इसीलिए इसे सामासिक संस्कृति, अनेकता में एकतामूलक संस्कृति, सामंजस्य और समन्वय की संस्कृति कहा जाता है। इस प्रकार के विशेषण विश्व के किसी अन्य राष्ट्र की संस्कृति के साथ प्रयुक्त नहीं होते।

भारतीय संस्कृति को समझने के लिए उसके ऐक्यमूलक सिद्धांत को समझना होगा। भारत विशाल देश है। विविध वर्णों और जातियों का देश है। विविध भाषाओं तथा धर्म-संप्रदायों का देश है। विविध रीति-रिवाजों तथा विविध वेषभूषाओं का देश है; फिर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी सांस्कृतिक पीठिका पर यह एक है, इसकी एकता असंदिग्ध है। विन्सेंट स्मिथ ने 'हिन्दुस्तान का इतिहास' में इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए लिखा है कि "निस्संदेह भारत में एक ऐसी गहरी मूलभूत एकता है जो भौगोलिक पार्थक्य अथवा राजनीतिक शासन से निर्मित एकता से कहीं अधिक गहन एवं गंभीर है।" यह एकता रक्त, रंग, भाषा, वेशभूषा, रीति-रिवाज, धर्म-संप्रदाय की अनेकानेक भिन्नताओं का अतिक्रमण करके बहुत ऊंची उठ जाती है। भारतीय संस्कृति के मूलभूत उपादानों में मानव को प्रमुख स्थान पर रखकर उसके विकास का चिंतन है। इस दृष्टि से मानव को सर्वश्रेष्ठ मानकर समस्त क्रिया-कलाप और सांस्कृतिक अनुष्ठान उसी के निमित्त किए जाने चाहिए, ऐसी मान्यता हमारी संस्कृति में प्रारम्भ से व्याप्त रही है। समस्त विश्व की मंगलकामना भी हमारी संस्कृति की आधार-शिला है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्' में इसी कामना को व्यक्त किया गया है। ईशोपनिषद् में यही भाव दूसरे शब्दों में व्यक्त किया गया है, "जो व्यक्ति समस्त प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को समस्त प्राणियों में देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता।" अर्थात् मानव ही नहीं, समस्त प्राणियों के प्रति रागात्मक संबंध रखने का उपदेश 'भारतीय चिंतन' में वैदिक काल से रहा है। मानवात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा भारतीय संस्कृति में है।

भारतीय संस्कृति व्यक्ति के आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक विकास को समानान्तर रूप से स्वीकार करती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतंत्र एकांश मानकर पहले अपना परिष्कार करे, तदनंतर समाज को स्वस्थ दिशा देने का प्रयास करे। व्यष्टि-निर्माण के बिना समाज-निर्माण की कल्पना करना मूल को छोड़कर पत्तियों और शाखाओं को सींचना है। यदि व्यक्ति के निजी जीवन में आचरण की पवित्रता नहीं है और मनसा, वाचा, कर्मणा वह सत्य की प्रतिष्ठा नहीं करता, तो वह सुसंस्कृत समाज का निर्माण कभी नहीं कर सकता। जो व्यक्ति मन, वचन और कर्म में साम्य नहीं रखता, उसे विद्वान् होने पर भी दंभी, धनवान होने पर भी लोभी, कुलीन होने पर भी अकुलीन ससझा जाता है। अतः संस्कृति का धन, वैभव, ऐश्वर्य, प्रभुता, पांडित्य, आभिजात्य, मान-सम्मान के साथ अनिवार्य संबंध नहीं है।

भारतीय संस्कृति में आत्म का विगलन और परात्म का पोषण है। अर्थात् स्वसुख-भोग की कामना से रहित होकर समाज को सुखी बनाने के प्रयत्न में संलग्न व्यक्ति सुसंस्कृत है। सुसंस्कृत व्यक्ति को ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिसे वह अपने प्रति सहन नहीं कर सकता। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' में इसी उदात्त आशय को व्यक्त किया गया है। व्यक्ति को सुसंस्कृत होने के लिए आत्मसंयम, अपरिग्रह, तितिक्षा, करुणा, अहिंसा, सत्य, सेवा, त्याग, समता, प्रेम और समन्वय की आवश्यकता है। जो व्यक्ति दूसरों के लिए अर्थात् समाज के लिए अधिक से अधिक कष्ट उठाकर जीवन-यापन करने में विश्वास करता है वह अपरिग्रही तो होता ही है, आत्मदमन के साथ निरीह और निःस्वार्थ भी होता है। इसीलिए परदुःखकातर होना—परायी पीड़ा को समझना वैष्णव संस्कृति का विशिष्ट तत्त्व ठहराया गया है। वास्तव में यह भाव भारतीय संस्कृति के मूल में ही व्याप्त रहा है। रामायण और महाभारत जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के संवाहक महाकाव्य हैं, आज भी इसीलिए समादृत हैं कि उनमें इस कोटि के चरित्रों की अवतारणा की गई है जिन्हें आज भी हम जाति, देश, काल की सीमाओं से ऊपर उठकर संस्कृति के मानदंड के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। दुष्कृति का विनाश, सुकृति की रक्षा, धर्म की संस्थापना आदि विशेषण उन्हीं महापुरुषों के लिए प्रयुक्त होते हैं जो संस्कृति के यान को युग-युगों तक बढ़ाते लाए हैं। आज के युग में भी महान वैज्ञानिकों का मानवता के कल्याण के लिए आत्म-बलिदान, राजनीतिज्ञों का राष्ट्र के लिए उत्सर्ग, समाज-सुधारकों का समाज के लिए निःस्वार्थ भाव से समर्पण और साहित्यकारों तथा विचारकों के मानव की विचारधारा के परिष्कार के लिए किए गए रचनात्मक प्रयत्न, संस्कृति-विकास की परंपरा में आने वाले अनुकरणीय कार्य हैं। इन्हीं से राष्ट्रीय संस्कृति बनती है।

भारतीय संस्कृति शब्द का प्रयोग करने पर यह प्रश्न अनेक बार उठाया गया है कि क्या किसी देश और जाति की अपनी भिन्न संस्कृति होती है जो किसी और देश की नहीं हो सकती? क्या भौगोलिक परिवेश एवं सामाजिक परिस्थितियों से राष्ट्रीय अथवा जातीय संस्कृतियों का निर्माण होता है? इन प्रश्नों का आशय यही है कि यदि भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति जैसी कोई संस्कृति है तो क्या वह मानव-संस्कृति या विश्व-संस्कृति से भिन्न, कुछ सीमित संस्कृति है? इस प्रश्न के उत्तर में मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि संस्कृतियों के निर्माण में एक सीमा तक देश और जाति का योगदान रहता है। संस्कृति के मूल उपादान तो प्रायः सभी सुसंस्कृत और सभ्य देशों के एक सीमा तक समान रहते हैं किंतु बाह्य उपादानों में अंतर अवश्य आता है। राष्ट्रीय या जातीय संस्कृति का सबसे बड़ा योगदान यही है कि वह हमें अपने राष्ट्र की परंपरा से संपृक्त बनाती है, अपनी रीति-नीति की संपदा से विच्छिन्न नहीं होने देती। आज के युग में राष्ट्रीय एवं जातीय संस्कृतियों के मिलन के अवसर अति सुलभ हो गए हैं, संस्कृतियों का पारस्परिक संघर्ष भी शुरू हो गया है। कुछ ऐसे विदेशी प्रभाव हमारे देश पर पड़ रहे हैं जिनके आतंक ने हमें स्वयं अपनी संस्कृति के प्रति संशयालु बना दिया है। हमारी आस्था डिगने लगी है। यह हमारी वैचारिक दुर्बलता का पक्ष है। अपनी संस्कृति को छोड़,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विदेशी संस्कृति के अविवेकहीन अनुकरण से हमारे देश के राष्ट्रीय गौरव को जो ठेस पहुंच रही है वह किसी जागरूक राष्ट्र-प्रेमी व्यक्ति से छिपी नहीं है। भारतीय संस्कृति में त्याग और ग्रहण की अद्भुत क्षमता रही है, अतः आज के वैज्ञानिक युग में हम किसी भी विदेशी संस्कृति के जीवंत तत्त्वों को ग्रहण करने में पीछे नहीं रहना चाहेंगे, किंतु अपनी सांस्कृतिक निधि की उपेक्षा करके वह परावलंबन राष्ट्र की गरिमा के अनुरूप नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर्य की आलोकप्रदायिनी किरणों से पौधे को चाहे जितनी जीवनी शक्ति मिले, किंतु अपनी जमीन और अपनी जड़ों के बिना कोई पौधा जीवित नहीं रह सकता। अविवेकपूर्ण अनुकरण केवल अज्ञान का ही पर्याय है।

भारतीय संस्कृति को बिना समझे कुछ विदेशी लेखकों ने इसे रूढ़िवादी तथा अंधविश्वासमयी संस्कृति कहा है। धर्म के संकीर्ण आवेष्टन में उन्हें भारतीय संस्कृति में जड़ता लक्षित हुई, किन्तु भारत की धर्मप्राणता ने जिस रूप में अन्य धर्मों को उन्मुक्त भाव से स्वीकार किया, उस ओर इन लेखकों का ध्यान नहीं गया। भारत की धर्मप्रवणता से न तो इस्लाम को ठेस पहुंची और न ईसाइयत के प्रचार-प्रसार में बाधा आई। मुसलमान, ईसाई और पारसी अपने-अपने धार्मिक विश्वासों के साथ भारतीय संस्कृति के अनेक पोषक तत्त्वों से समृद्ध होते रहे। पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा उर्दू का उद्भव भारतीय भाषाओं से हुआ, वही उर्दू आज हिन्दू-मुसलमान दोनों की भाषा है। हिंदुओं की रथयात्रा का रूपांतरण मुसलमानों के ताजियों में माना जाता है। सुख का दुःख में यह विपर्यय भी संस्कृतियों के संघर्ष का परिणाम है। भारतीय संस्कृति भारत से बाहर जिन-जिन देशों में गई, वहाँ अपनी छाप अवश्य छोड़ती आई। मिस्र का प्रथम धर्मोपदेष्टा और शासक मेनस अब केवल धर्मग्रंथों में ही है किंतु जिस मनु को उन्होंने 'मेनस' नाम से माना है वह मनु आज भी भारतीय साहित्य, धर्म और स्मृतियों में जीवित है। चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, बर्मा, बोर्नियो आदि देशों में बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति का संक्रमण हुआ और आज भी वह इन देशों की अपनी सामाजिक परम्पराओं और धार्मिक मान्यताओं में देखी जा सकती है। हमारी संस्कृति आक्रामक कभी नहीं रही, यही उसकी विशेषता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के कुछ मानदंड थे, जो युग के अनुरूप बदलते गए। वर्णाश्रम-व्यवस्था, अध्यात्मवाद, मोक्ष, अपरिग्रह, अहिंसा, यज्ञ, श्रमण या संन्यास आदि के प्रति आज उस प्रकार का आग्रह नहीं रह गया है। आश्रम-व्यवस्था तो लगभग समाप्त हो गई है। मोक्ष और पुनर्जन्म के सिद्धांत दार्शनिक चिंतन के विषय हो गए हैं। संन्यासाश्रम और श्रमण संस्कृति भी सार्वदेशिक रूप में लक्षित नहीं होती। इसी प्रकार वैदिक कर्मकांड, यज्ञ और आरण्यक जीवन भी संस्कृति का अनिवार्य अंग नहीं रह गया है। यह सब परिवर्तन भारतीय संस्कृति की उदारता के ही सूचक हैं। मूढ़ाग्रह से मुक्त होने का यह प्रमाण है। मैं इन तत्त्वों का विरोध नहीं करता, किन्तु युगधर्म ने उन्हें छोड़ दिया तो संस्कृति के भी वे अनिवार्य उपकरण क्यों माने जाएं?

भारतीय संस्कृति के आंतरिक एवं बाह्य पक्षों को समझने के लिए उन्हें पृथक्-पृथक् करके परखना होगा। यदि संस्कृति का आंतरिक पक्ष उद्घाटित करना है तो भारत के विभिन्न धर्मों, दर्शनों, साहित्यिक ग्रन्थों, लोकविश्वासों तथा सर्वस्वीकृत धारणाओं का अध्ययन अपेक्षित है। कुछ ऐसे मौलिक सिद्धांत और शाश्वत सत्य हैं जो भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड कहे जा सकते हैं। आस्तिकवाद भारतीय अध्यात्म का सुफल है। इस आस्तिकवाद को हमारे मनीषी दार्शनिकों ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' के रूप में प्रारम्भ किया था, जिसकी परिणति अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि अनेक रूपों में हुई। इसके साथ ही एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद और बहुदेववाद भी हमारे चिन्तन में स्वीकृत हुआ। आधिदैविक और आधिभौतिक शब्दों के माध्यम से भी हमारे यहाँ इन विषयों पर गंभीरता के साथ विचार-विमर्श हुआ है। यह सब चिन्तन विचार-स्वातंत्र्य का ही परिचायक है। आस्तिकवाद के भीतर ही अवतारवाद की कल्पना भी देखी जा सकती है। अवतारवाद के साथ ईश्वरीय शक्ति के त्रिविध रूप भी स्वीकृत हुए हैं जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु, शिव नाम से व्यवहृत किया जाता है। इन तीनों देवताओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न भी चिरकाल से चला आ रहा है। भक्तिकालीन साहित्य में इस समन्वय को तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में मुखर किया है। भगवान् विष्णु और भगवान् शिव का स्वरूप इस बहिरंग विरोधाभास का सर्वश्रेष्ठ चित्र प्रस्तुत करता है। 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' को पढ़ते समय पाठक के भीतर द्विधात्मक भाव आ सकते हैं, क्योंकि एक ही ईश्वर स्वयं को दो रूपों में अभिव्यक्त करता है। दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। एक श्याम है तो दूसरा गौर, एक का विग्रह वस्त्राभूषणों से अलंकृत है तो दूसरा नग्न और नाग धारण करता है। एक लोक-मर्यादा का संरक्षक है तो दूसरा अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप से मर्यादा का उपहास करता प्रतीत होता है। विष्णु देवताओं के संरक्षक हैं, शिव देवाधिदेव होते हुए भी असुरों की पूजा स्वीकार करते हैं—एक लोकपालक है तो दूसरा सृष्टि का संहारक। दोनों में बाह्य रूप से कितना वैभिन्नय है किन्तु तत्त्वतः दोनों एक हैं। यह समन्वय भारतीय दर्शन, चिन्तन और आचरण में सर्वत्र पाया जाता है।

इसके साथ ही हमारे यहाँ बौद्ध और जैन दर्शन नास्तिक कहे जाने पर भी भारतीय संस्कृति से बाहर नहीं हैं। संसार की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन केवल दर्शन का ही विषय नहीं, भारतीय चिन्तन का भी परिणाम है जिसे परवर्ती भारतीय सूफी कवियों ने भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वीकार किया। भारतीय संस्कृति में अनासक्त भाव से कर्म करने का विधान है। गीता के द्वारा यह अनासक्ति योग बहुत अधिक मान्य हुआ और अन्य धर्मावलम्बियों के लिए भी कर्म का प्रेरक तथा कर्मफल से अनासक्त बनाने में सहायक हुआ। निष्काम कर्म की भावना को हम भारतीय संस्कृति की महान् देन कह सकते हैं। विश्व के किसी देश की संस्कृति में इस प्रकार की कर्म-प्रेरणा उपलब्ध नहीं होती। सी० ई० एम० जोड के शब्दों में—"मानव जाति को भारतवासियों ने जो सबसे बड़ी चीज वरदान के रूप में दी है, वह यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियों के लोगों और अनेक प्रकार के विचारों के बीच समन्वय स्थापित करने को तैयार रहे हैं, और सभी प्रकार की विविधताओं के बीच एकता कायम करने की उनकी योग्यता और शक्ति अप्रतिम रही है।" भारतीय दर्शन आत्म-दर्शन है—पाश्चात्य दर्शन भौतिकता का दर्शन, अतः उसका सांस्कृतिक आधार भी वैसा ही है। भारतीय जन की प्राचीन काल में चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) की इच्छा रहती थी। दार्शनिक शब्दों में इसे 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' कहा गया है। यह पुरुषार्थ-चतुष्टय साहित्य और कला में भी अभिव्यक्ति पाता रहा।

जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में भी भारतीय संस्कृति द्विधाग्रस्त नहीं है। शरीर के प्रति मोह को इस संस्कृति में स्थान नहीं मिला, किन्तु साथ ही नीरोग और स्वस्थ शरीर से शतायु होने की कामना पाई जाती है। 'जीवेम शरदः शतम्' इसी कामना का उद्घोष है। सुख-दुःख में समान रहने का उपदेश तो गीता में है, किन्तु भारतीय महाकाव्यों के नायक उसे चरितार्थ करते हैं। रामायण का नायक रामचन्द्र पुरातन संस्कृति का जीवन्त प्रतीक है। सिंहासनारूढ़ होने का सुख उसे मोहित नहीं करता—वनवास की आज्ञा भी उसके लिए दुःख का कारण नहीं है। दोनों स्थितियों को वह समान रूप से स्वीकारता है। भारत के महाकाव्यों में, लोक-कथाओं में, पौराणिक आख्यानों में जो महापुरुष सहस्रों शताब्दियों से जीवित हैं, उनमें हरिश्चन्द्र, दधीचि, शिवि, बलि, रामचन्द्र, कृष्णचंद्र, युधिष्ठिर, भगवान् गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर स्वामी आदि का नाम संस्कृति के किसी न किसी एक विशेष गुण के कारण ही है।

अहिंसा, करुणा, मैत्री, मुदिता और विनय को सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए केवल जैन और बौद्ध धर्म में ही नहीं, सभी भारतीय धर्मों में अनिवार्य माना गया है। अहिंसा और जीव-दया इसी कारण संस्कृति का अंग बन गई। किन्तु जब विभिन्न देशों और विभिन्न धर्मावलंबियों का भारत में आगमन और समंजन हुआ, इन तत्त्वों में यथाभिलषित परिवर्तन भी आए। परिवर्तन भविष्य में भी होंगे, इस संभावना को हम निरस्त नहीं कर सकते; किन्तु भारतीय संस्कृति उन परिवर्तनों में अपना स्वरूप विलीन नहीं करेगी। इन परिवर्तनों को हम भारतीय संस्कृति की प्रतिभा के अलंकरण ही मानते हैं जिन्हें देश-कालानुसार उतारा और पहना जा सकता है।

भारतीय संस्कृति पर यों तो प्राचीन काल से ही आघात होते रहे हैं किन्तु इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रहार पूरी निष्ठुरता के साथ हुए। इन प्रहारों को झेलकर तथा इन धर्मों को अपने अंचल में समेट कर भारतीय संस्कृति जीवित रही, यही इसकी जीवंतता का प्रमाण है। ब्रिटिश शासनकाल में ही पुनर्जागरण का समय आया। उसी पुनर्जागरण में राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्ति उत्पन्न हुए और उन्होंने भारतीय संस्कृति की मूल धारा को अक्षुण्ण रखा। इस युग के इन महापुरुषों ने संस्कृति को अधिकाधिक उदार बनाने का ही प्रयास किया; धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देकर संकीर्ण मनोवृत्ति से बचाये रखा।

जैन संस्कृति की आधारशिला

जैन धर्म भारत का प्राचीन धर्म है जिसका मूल प्रवर्तन प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के द्वारा हुआ। प्रथम तीर्थंकर का काल अनिर्णीत है। उनके और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के बीच काल की दृष्टि से कितना अन्तराल है, यह भी निश्चित नहीं है। भगवान् महावीर को जैन धर्म का प्रवर्तक मानने की भूल इसी कारण होती है कि उनसे पूर्व उत्पन्न तेईस तीर्थंकरों का क्रमबद्ध इतिवृत्त सुलभ नहीं है किन्तु उनके नाम प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं। भगवान् महावीर ने जैन धर्म में युगानुरूप क्रान्तिकारी परिवर्तन किये और एक प्रकार से जैन धर्म को भारतीय चिन्तन धारा में प्रमुख स्थान पर नवीन दर्शन और ज्ञान के साथ ला खड़ा किया। भगवान् महावीर का युग अनेक दृष्टियों से अन्तर्विरोधों तथा घात-प्रतिघातों से पीड़ित था। उस युग में युद्ध, संघर्ष के साथ हिंसा को कर्मकांड में भी स्थान मिल गया था। फलतः मानव-मूल्यों में भी प्रतिक्रियावादी दृष्टि प्रमुख हो गई थी।

जैन धर्म की पुनःस्थापना या व्यापक प्रचार की दृष्टि से पुनरुत्थान के बाद जो नवीन दर्शन और सांस्कृतिक मूल्य स्थापित हुए, उनका महत्त्व निर्विवाद रूप से सर्वस्वीकृत है। इन जीवन-मूल्यों से जिस संस्कृति का चित्र उभरता है, उसे हम जैन धर्म की सांस्कृतिक देन कह सकते हैं। जिस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि 'आत्मसंस्कृतिर्भाव शिल्पानि' अर्थात् समस्त शिल्प आत्म-संस्कृति की अभिव्यक्ति या प्रकाश है, उसी प्रकार जैनाचार के समस्त नियम और उपदेश जैन संस्कृति की अभिव्यक्ति हैं। जैन धर्म में लोक-जीवन के परिष्कार के लिए जो साधन स्वीकार किये गये, उनमें जनसम्पर्क को प्रमुख स्थान दिया गया। जनसम्पर्क के लिए लोक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाषा अर्थात् सामान्य जनता की भाषा को प्रमुख स्थान मिला। अर्धमागधी, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश आदि भाषाएँ जैनाचार्यों के जन-संपर्क की भाषाएँ बनीं और इनके द्वारा उपदेशों का प्रचार हुआ। जैनाचार्य संस्कृत भाषा में पूर्ण पारंगत थे किन्तु प्राकृत जन के साथ सौहार्द स्थापित करने के लिए उन्होंने लोकभाषाओं का प्रश्रय लिया था।

जैन संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है चिन्तन में उदारता। किसी एक विचार को पकड़ कर उसका आग्रह व्यक्त करना जैन संस्कृति में नहीं है। इसलिए अनेकान्त जैसे उदार दर्शन की स्थापना हुई। किसी भी विषय में किसी एक विचार को अन्तिम सत्य नहीं कहा जा सकता। पक्ष-प्रतिपक्ष पर विचार करने से उसी विचार के अनेक बिन्दु हो सकते हैं। दृष्टि-भेद से भी वस्तु-भेद होता है। सापेक्षता से भी भेद लक्षित किया जा सकता है। संभावनाओं की इयत्ता न होने से अनेकान्त सिद्धान्त का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। किसी भी वस्तु या विचार को हम एकायामी नहीं ठहरा सकते। एक समय में हम किसी वस्तु की सम्पूर्णता का कथन नहीं कर सकते। जब हम किसी वस्तु को परिभाषित करते हैं तब किसी विशेष दृष्टि से ही करते हैं, वह दृष्टि समग्र-दृष्टि नहीं होती। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हम वस्तु को समग्रतम दृष्टि से देखें, परखें और अपने मत को अंतिम सत्य न समझें। इस दृष्टिकोण से वस्तु के समझने में विवाद नहीं होता।

इसी सिद्धान्त को दूसरी दार्शनिक शब्दावली में 'स्याद्वाद' शब्द से अभिहित किया गया है। जैन संस्कृति की उदार दृष्टि इस स्याद्वाद में भी समाहित है। यह वस्तु ऐसी है, ऐसी भी है और ऐसी से कुछ भिन्न भी है। कैसी है, यह इसकी सम्पूर्णता में कथन करना दुष्कर है। जब हम अपने पक्ष के प्रतिपादन के साथ प्रतिपक्ष को भी समझने और ग्रहण करने की गुंजाइश लेकर चलते हैं तो उदारता, सहिष्णुता, समता और सामरस्य का वातावरण बनता है जो सुसंस्कृत समाज का लक्ष्य है। जैनधर्म में संस्कृति का यह उच्चादर्श चिन्तन-मनन के क्षेत्र में सर्वत्र लक्षित किया जा सकता है। जैन संस्कृति की यह मौलिक देन है जो मत-मतान्तरों के संघर्ष और वैमनस्य को समूल नष्ट करती है। स्याद्वाद का सिद्धान्त सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्त होने के साथ व्यावहारिक जीवन का भी मार्गदर्शक सिद्धान्त है। संस्कृति के क्षेत्र में यह एक बड़ा प्रकाश-स्तम्भ है। इस सिद्धान्त में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की पूर्णरूपेण रक्षा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचार को रखता हुआ वस्तुपरक दृष्टि से तत्त्व चिन्तन कर सकता है।

जैन संस्कृति में आचार-मर्यादा को प्रमुख स्थान दिया गया है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का विधान है। यह त्रयी जीवन के श्रद्धा, तर्क और आचरण के सम्मिलन से सदाचार का पथ प्रशस्त करती है। यदि हम इन तीनों का सम्यक् बोध करलें तो जीवन में सांस्कृतिक दृष्टि से उच्चादर्श तक पहुंच सकते हैं। यह शब्दत्रयी अपने परिवेश में उन सब उदात्त गुणों को समेट लेती है जो मानव-समाज को कल्याण के पथ पर ले जाते हैं।

आचरण की पवित्रता के लिए जैन धर्म में पाँच व्रतों का विधान है। ये पाँच महाव्रत तथा दश नियम योगदर्शन के यम-नियमों के समान ही हैं। पाँच व्रतों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य हैं। श्रावक इनका आंशिक रूप से भी पालन करें तो उनके जीवन में सुख-संतोष का समावेश होगा। साधुओं के लिए इन व्रतों का पालन अनिवार्य है और पूर्णरूपेण उन्हें इनको अपनी चर्या में स्थान देना होता है। अहिंसा का जो रूप सामान्यतः समझा जाता है, जैन धर्म में उतना ही पर्याप्त नहीं है। अहिंसा मन, वचन और कर्म तीनों स्थलों पर ग्रहण करनी होती है तभी व्यक्ति पूर्ण अहिंसक बनता है। अपरिग्रह तो जैन साधुओं में आज भी देखा जा सकता है। मनुष्य स्वभाव से परिग्रही होता है, उसे अपरिग्रही बनाना सरल नहीं है। किन्तु अपरिग्रही बनने पर इस क्षणभंगुर संसार का समस्त वैभव तृणवत् त्याज्य बन जाता है। ब्रह्मचर्य का व्रत नारी जाति के सम्मान और प्रतिष्ठा से जुड़ा है। समाज में नारी को प्रतिष्ठा तभी मिलेगी जब लम्पटता, दुराचार, व्यभिचार आदि दूषित वृत्तियाँ दूर होंगी। इनके लिए ब्रह्मचर्य व्रत की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है।

जैन धर्म में सामाजिक वैषम्य की किसी रूप में भी स्वीकृति नहीं है। जैन संस्कृति सामाजिक न्याय, मैत्री और समता पर बल देकर बंधुता की स्थापना करती है। भगवान् महावीर ने जैन संस्कृति की पुनःस्थापना करते हुए इन सभी जीवन-मूल्यों को समाज के लिए अनिवार्य माना है। मनुष्य के संस्कार-संवर्धन के लिए इन उदात्त गुणों का ग्रहण जिस समाज में होगा, वह स्वयमेव सुसंस्कृत हो जाएगा।

जैन संस्कृति का प्रमुख लक्ष्य व्यक्ति और समाज को एक अहिंसक, शान्तिप्रिय, निर्भीक, प्रीतिपूर्ण, सौहार्दपूर्ण, सृजनोन्मुख जीवन-शैली प्रदान करता है। जैनाचार्यों के समस्त शास्त्र और उपदेश-वचन विषमता में समता की स्थापना करने में प्रवृत्त रहे हैं। वैचारिक सहिष्णुता इस संस्कृति का जीवन-मूल्य है, अनेकान्त इसी का समर्थन है। समाज में साथ रहते हुए हम एक-दूसरे के विचारों को समझें, अपने को पूर्ण न मानें, स्याद्वाद इसी का अनुमोदन करता है। इन सिद्धान्तों की स्वीकृति से जो संस्कृति निर्मित होगी वह विश्व में प्रेम, मैत्री और बंधुता की स्थापना कर सकेगी। पारस्परिक विश्वास इस संस्कृति का आधार-स्तंभ है अतः जैन धर्म प्राचीन काल से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज तक समय के थपेड़ों को सहिष्णु होकर झेलता चला आ रहा है और उसकी संस्कृति अक्षुण्ण बनी हुई है। भारतीय संस्कृति का यह एक सुदृढ़ आधार है। भारतीय संस्कृति को समझने के लिए इसे तदाकार कर ही समझना होगा। जैन संस्कृति का समग्र अवदान तो साहित्य, धर्म, दर्शन, कला, भाषा, इतिहास, पुरातत्त्व आदि सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। समस्त भारत में जैन धर्म के असंख्य अनुयायी हैं और प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में इस प्राचीन धर्म के ग्रंथ पाये जाते हैं जिनके आधार पर हम जैन संस्कृति के व्यापक महत्त्व को समझ सकते हैं।

संक्षेप में, विश्व संस्कृति का इतिहास मनुष्य के निर्माण का इतिहास है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिक युग की वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति ने संस्कृति को व्यापक आयाम देकर आगे बढ़ाया है। ज्यों-ज्यों ज्ञान-विज्ञान के नये क्षेत्र खुलेंगे—मनुष्य की बुद्धि, जिज्ञासा और चेतना का प्रसार होगा और संस्कृति की दिशा में भी मनुष्य को अधिक सक्रिय होना पड़ेगा। किन्तु मानव को सतर्क रहकर यह भी देखना होगा कि वैज्ञानिक विकास की यह प्रक्रिया मात्र बौद्धिक ही न बने; मनुष्य की संवेदनशील रागात्मिका वृत्ति से इसका संबंध टूटे नहीं। विज्ञान के आविष्कारक यदि अणुबम और हाइड्रोजन बम बनाने में लगे रहें तो मानव-संस्कृति के कलंक नागासाकी और हिरोशिमा के बीभत्स और भीषण दृश्य पुनः उपस्थित हो सकते हैं। भारतीय संस्कृति इसीलिए युद्ध को भी धर्म-युद्ध की संज्ञा देती रही है। ऐसी संज्ञा अन्यत्र कहीं नहीं है। मानव और दानव की संस्कृति में भेद मानती रही है। निरीह, निहत्थे, निरस्त्र, निरपराध मनुष्यों पर बम-वर्षा केवल असंस्कृत कर्म ही नहीं, अमानवीय भी है। अतः भारतीय संस्कृति ज्ञान-विज्ञान के रचनात्मक विकास में आस्था रखते हुए 'जियो और जीने दो' में विश्वास रखती है। हम मृत्यु-पूजक नहीं हैं, हम दूसरे का धन छीनने का स्वप्न नहीं देखते। 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' हमारा मंत्र है। अहिंसा, अपरिग्रह, शांति और संतोष हमारी दिनचर्या है। आत्मा की अमरता में हमारा विश्वास है। हम प्राणिमात्र के सुख की कामना करते हैं। महापुरुषों का सम्मान हमारी संस्कृति में सर्वोच्च स्थान पाता है। 'महाजनो येन गतः स पंथाः' इसीलिए कहा गया है कि हम मनीषियों का आदर करते हैं। हमने किसी ईसा मसीह को सूली पर नहीं चढ़ाया, किसी सुकरात को जहर का प्याला नहीं पिलाया, किसी गेलीलियो की आँखें नहीं फोड़ीं। यदि हमें कहीं आसुरी वृत्ति के विरोध में खड़ा होना पड़ा तो युद्ध-क्षेत्र में उस असुर का सामना किया और उसे परास्त किया है।

हम मानव को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए उसके सांस्कृतिक विकास के लिए साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला और शिल्प को आवश्यक मानते हैं। हम समस्त संसार को सुसंस्कृत एवं सभ्य देखना चाहते हैं। हमारा विश्वास है कि विश्व का सांस्कृतिक विकास ही विश्व-शांति, विश्व-मैत्री और विश्व-ऐक्य की सरणि है। किसी जड़-परंपरा में हम मूढ़ आस्था नहीं रखते। रूढ़िवादिता और अंधविश्वासों की बेड़ियाँ तोड़कर प्रगति और प्रकाश में विचरण करने की अदम्य लालसा हममें प्रारम्भ से रही है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' और 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' उसी लालसा के उद्घोष हैं। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' केवल सूक्ति ही नहीं, जीवन-सरणि है। अपने विचारों और विश्वासों में आस्था का भी हमारे यहाँ स्थान है। 'स्वधने निधनं श्रेयः' इसीलिए सद्धर्म की नीति है। प्रसिद्ध मनीषी इमर्सन ने कहा है—"अपने विचार में आस्था या विश्वास रखना, यह विश्वास रखना कि जो तुम्हारे अपने हृदय के लिए सत्य है वह सब मनुष्यों के लिए सत्य है—यही प्रतिभा है।" हमारी संस्कृति में इस प्रतिभा की स्वीकृति ही नहीं, वरण है। इसी प्रतिभा से रूढ़ियों का दबाव हटता है और यही प्रतिभा मनुष्य-समाज को उच्चतर भूमिका की ओर अग्रसर करती है। उच्चतर भूमिका की ओर अग्रसर होना ही संस्कृति के मार्ग की ओर बढ़ना है।

"सहिष्णुता, उदारता, सामासिक संस्कृति, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसा—ये एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। असल में यह भारतवर्ष की सबसे बड़ी विलक्षणता का नाम है, जिसके अधीन यह देश एक हुआ है और जिसे अपनाकर सारा संसार एक हो सकता है। अनेकान्तवादी वह है जो दुराग्रह नहीं करता। अनेकान्तवादी वह है जो दूसरों के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवादी वह है जो अपने पर भी संदेह करने की निष्पक्षता रखता है। अनेकान्तवादी वह है जो समझौतों को अपमान की वस्तु नहीं मानता। अशोक और हर्षवर्धन अनेकान्तवादी थे, जिन्होंने एक धर्म में दीक्षित होते हुए भी सभी धर्मों की सेवा की। अकबर अनेकान्त-वादी था, क्योंकि सत्य के सारे रूप उसे किसी एक धर्म में दिखाई नहीं दिए एवं सम्पूर्ण सत्य की खोज में वह आजीवन सभी धर्मों को टटोलता रहा। परमहंस रामकृष्ण अनेकान्तवादी थे, क्योंकि हिन्दू होते हुए भी उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की साधना की थी। और, गांधीजी का तो सारा जीवन ही अनेकान्तवाद का उन्मुक्त अध्याय था।

वास्तव में भारत की सामासिक संस्कृति का सारा दारोमदार अहिंसा पर है, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की कोमल भावना पर है। यदि अहिंसा नीचे दबी और असहिष्णुता एवं दुराग्रह का विस्फोट हुआ, तो वे सारे ताने-बाने टूट जायेंगे जिन्हें इस देश में आनेवाली बीसियों जातियों ने हजारों वर्ष तक मिलकर बुना है।"

—रामधारीसिंह 'दिनकर'

('एई महामानवेर सागर-तीरे' से)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org